Original Article
ISSN (Online): 2582-7472

ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts
July-December 2023 4(2), 2313–2322

DEVELOPMENTAL STRATEGY, TRIBALS, JUSTICE: STRUGGLE FOR IDENTITY

विकासवादी रणनीति, आदिवासी, न्याय: पहचान का संघर्ष

Rohit [1]

[1] Research Scholar, India

DOI
10.29121/shodhkosh.v4.i2.2023.3742

Funding: This research received no specific grant from any funding agency in the public, commercial, or not-for-profit sectors.

Copyright: © 2023 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License.

With the license CC-BY, authors retain the copyright, allowing anyone to download, reuse, re-print, modify, distribute, and/or copy their contribution. The work must be properly attributed to its author.

OPEN ACCESS

ABSTRACT

English: The issue of community rights of tribals in India is linked to social justice and the existence and identity of the original inhabitants of the society, which cannot be ignored from discussion today. Because today the need is to ensure the rights of those people and all those issues related to their identity and existence whose entire life is completely dependent on forests. Which has been continuously exploited since the British period under the concept of "metropolitan city" for the creation and development of a better civilization. For example, here I mean those judicial activities and political alliances in the context of tribal issues through which tribals are being given legal protection, but perhaps the judicial system is not that capable of deciding the scope of their rights under the claim of their rights. Then, in order to protect the industrial houses, the state snatches away the rights of the tribals by putting the government stamp of national interest and cooperative development on their lands.

Hindi: भारत में आदिवासियों के सामुदायिक अधिकारों का मुद्दा सामाजिक न्याय व समाज के मूल निवासियों के अस्तित्व व पहचान से जुड़ा हुआ है जिसे आज चर्चा से नजरअंदाज नही किया जा सकता। क्योंकि आज आवश्यकता उन लोगों के अधिकारो और उनकी पहचान और अस्तित्व से जुडे उन तमाम मुद्दों को सुनिश्चित करने की है जिनका सम्पूर्ण जीवन पूरी तरह से सिर्फ वनों पर ही निर्भर है। जिसका दोहन ब्रिटिश काल से ही एक बेहतर सभ्यता के निर्माण और विकास की "मैट्रोपोलिटिन सिटी" की अवधारणा के अन्तर्गत् लगातार किया जाता रहा है। मसलन यहाँ मेरा आश्य आदिवासियों के मुद्दो के संदर्भ में उन न्यायिक गतिविधियों और राजनितिक गठजोड़ से है जिनके माध्यम से आदिवासियों को कानूनी सरंक्षण तो दिया जा रहा है परन्तु शायद न्यायिक व्यवस्था इनके अधिकारों की दावेदारी के तहत इनके अधिकारों के दायरो को तय करने में उतनी संक्षम नही है। तभी मौके बेमौके ऐौद्योगिक घरानों को सरंक्षण देने के लिये राज्य द्वारा आदिवासियों की जमीनों पर राष्ट्रीय हित और सहकारी विकास का सरकारी ठप्पा लगा कर इन से इनके ही अधिकारों को छीन लिया जाता है।

1. प्रस्तावना

भारत में आदिवासियों के सामुदायिक अधिकारों का मुद्दा सामाजिक न्याय व समाज के मूल निवासियों के अस्तित्व व पहचान से जुड़ा हुआ है जिसे आज चर्चा से नजरअंदाज नही किया जा सकता। क्योंकि आज आवश्यकता उन लोगों के अधिकारो और उनकी पहचान और अस्तित्व से जुडे उन तमाम मुद्दों को सुनिश्चित करने की है जिनका सम्पूर्ण जीवन पूरी तरह से सिर्फ वनों पर ही निर्भर है। जिसका दोहन ब्रिटिश काल से ही एक बेहतर सभ्यता के निर्माण और विकास की "मैट्रोपोलिटिन सिटी" की अवधारणा के अन्तर्गत् लगातार किया जाता रहा है। मसलन यहाँ मेरा आश्य आदिवासियों के मुद्दो के संदर्भ में उन न्यायिक गतिविधियों और राजनितिक गठजोड़ से है जिनके माध्यम से आदिवासियों को कानूनी सरंक्षण तो दिया जा रहा है परन्तु शायद न्यायिक व्यवस्था इनके अधिकारों की दावेदारी के तहत इनके अधिकारों के दायरो को तय करने में उतनी संक्षम नही है। तभी मौके बेमौके ऐौद्योगिक घरानों को सरंक्षण देने के लिये राज्य द्वारा आदिवासियों की जमीनों पर राष्ट्रीय हित और सहकारी विकास का सरकारी ठप्पा लगा कर इन से इनके ही अधिकारों को छीन लिया जाता है।

स्वभावत: यदि देखा जाये तो यह मानव जीवन की ही तीव्र प्रगति और विकास के लिये खत्म न होने वाली उत्सुकता है जिसके कारण व्यक्ति विकास की दौड़ का चरम बिंदु निश्चित् ही नही कर पा रहा है। इसके चलते वह पर्यावरण को खत्म न होने वाला ख़जाना मान कर बस नये-नये अविष्कार

करता जा रहा है और विकास की उस अंधनगरी की ओर तीव्रता से बड़ता जा रहा है जिसकी शकलो सूरत से वह खुद भी अनजान ही है जिसका चरम बिंदू न तो कंकरीट से बने रोड है और न ही लगातार जंगली जीवन को खनन और तथाकथित औद्योगिकरण की अनिश्चित् परिभाषा के तहत नष्ट करने की प्रक्रिया ही, जिसका उदाहरण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर निश्चित् किया गया 'विकसित' श्रेणी का खेमा हैं। जिसके आधार पर आज सभी देशो के आर्थिक व सामरिक क्षेत्रों को महत्वपूर्ण मानते हुये विश्व को विकसित, विकासशील, और अविकसित देशो की श्रेणी में विभाजित कर दिया गया है जिसे विश्व अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कहा जाता हैं। विकास की इस प्रक्रिया के विषय में 'मॅकनील' का कहना था कि आर्थिक समृद्धि और तकनीकी विकास का यह जुड़ाव मात्र लोगों की संख्या या समृद्धि से ही नही जुड़ा था अपितु यह धरती पर लोगों के प्रभाव से भी जुड़ा हुआ था ('मॅकनील': 2000) 1 जो आज भी जुडा हुआ है जिसके चलते आज भी कई आदिवासी समुदायें वनों पर पूर्णत निर्भर है। मसलन चुनावों के दौरान आदिवासी बहुल राज्यों में राजनीतिक पार्टियों द्वारा लगातार वनों व वन सम्पदा पर आदिवासियों के अधिकारों की लांबंदी इस बात का सबूत है कि राजनीतिक दल भलीभँति आदिवासियों के अधिकारों संबंधी मुद्दों से वाकिफ ही नही है अपितु समय समय पर अपने राजनीतिक हितो को साधने के लिये इनका भरपूर इस्तेमाल भी करती हैं।

वास्तव में इन सब मामलों में वन भूमि का हस्तांतरण का मुद्दा काफी पेचीदा रहा है । यदि अब तक हुये भूमि अधिग्रहण के आंकडों की ओर देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पिछली यूपीए सरकार के शासन काल में ही अकेले वर्ष 2013 में 2.43 लाख हेक्टेयर वन भूमि का सफाया औद्योगिक क्षेत्रों और विकास प्रोजेक्टस के लिये करवा दिया गया। वहीं दूसरी ओर इसी के साथ तेल और मिनीरल्स के खनन के लिये अन्य 1.64 लाख हेक्टेयर भूमि पर इसी दौरान परमीट दिया गया। इस प्रकार वर्ष 2013 में हुये वनों के कटाव और वन भूमि के हस्तांतरण पर सरसरी नज्ार डाली जाये तो लगभग 7.36 लाख हेक्टेयर पर जीवित वन भूमि को नष्ट कर दिया गया जो क्षेत्रफल की दृष्टि से लगभग पंजाब राज्य के जितना बडा क्षेत्र था। इस प्रकार ग्रासरूट स्तर पर जीवन व्यतीत कर रहे लोगों के शोषण की यह प्रक्रिया बद दस्तूर एक पुश्तैनी परंपरा के रूप में सत्ता में आने वाली सभी सरकारंे अपनाती आई है। जिसमे सदैव घाटे में हास्यप्रद् स्थिति में अपना जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासी समुदाय ही रहते है और इस सब में आदिवासियों की स्थिति और भी दयनीय इसलिये है क्योंकि सरंक्षण की रणनीति के तहत जानवरों मुख्यतः मूल्यवान जानवरों जैसे हाथी, बाघ, शेर आदि को तो सरंक्षण दिया जाता है परन्तु आदिवासी समुदायों को मुआवजें का ठेंगा दूर से ही दिखा कर उनकी भूमि पर सरकारी नियंत्रण स्थापित किया जाता रहा है।

अतः इन सब मुद्दों को ध्यान में रखते हुये इस शोध को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया गया है। क्रमशः पहले भाग में औपनिवेशिक दौर से उत्तर औपनिवेशिक दौर में किस प्रकार वनों पर नियत्रंण की शोषणकारी नीति को अपनाया जाता रहा है को समझाने का प्रयास किया गया है ताकि वन जो आदिवासियों द्वारा एक सांझी सम्पदा समझी जाती रही है, से जुडे मुद्दो के संदर्भ में उठे हकदारी और दावेदारी के संघर्षो की स्थिनिय मांग की प्रकृति को समझा जा सके। दूसरे भाग में विकास के नाम पर आदिवासियों के वनों से संबंधित पीछे छूटते जा रहे मुद्दो ये संबंधित विषय पर प्रकाश डाला गया है। इस भाग को शोध में शामिल करने का मेरा मकसद आदिवासियों के हकदारी के मुद्दों पर राज्य द्वारा पोषित की जाने वाली दोहरी नीति का आंकलन करने से है। मसलन शोध का तीसरे भाग में आदिवासियों के मुद्दों पर न्यायिक व्यवस्था के रवैये को समझाने का प्रयास किया गया है ताकि भारतीय न्यायपालिका द्वारा आदिवासियों तक उनके अधिकारों की पहुँच की स्थितियों और प्रयासो को समझा जा सकें। इस भाग में शोध का निचोड व समकालीन समय में आदिवासियों की समस्यओं पर गहन अध्ययन किया गया है, साथ ही भारतीय न्यायपालिका के आदिवासियों के अधिकारों की पहुँच संबंधि प्रयासों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार इस शोध को लिखने का मेरा मुख्य लक्ष्य आदिवासियों के अधिकारों के मुद्दों पर अपनाये जाने वाले रवैये के साथ उन राजनीतिक रणनीतियों का विश्लेषण करना है जिसके तहत राज्य अधिकारों को ग्रासरूट स्तर तक पहुँचाने में अपनाता है, तथा आदिवासियों के वनों पर निर्भर अधिकारों व हकदारी को पर्यावरणीय हानि के नाम पर नकारते हुये आदिवासियों को उनकी पहचान से ही वंचित कर देता है?

विश्लेषणात्मक रूप से वन दोहन को मुख्य दो रूपों में समझा जा सकता है पहला बिना किसी जबावदेही के बडे स्तर पर राज्य वन्य भूमि को निर्बाध रूप से सरकार द्वारा सब्सीसाईड कम्पनीयों को हस्तांतरित किये जाने संबंधी मुद्दे से जुडा है और दूसरा अधिकारों और हकदारी के संदर्भ से जुडे स्थिनीय लोगों को वन भूमि से संबंधित नीतियों और इस क्षेंत्र में लाये जाने वाले कानूनी बदलावो से अवगत् न करवाना और सार्वजनिक जन सुनवाई की प्रक्रिया को कमजोर करने से जुडा है। इस प्रकार यह दूसरा तरीका अमूमन सरकार द्वारा अपनाया जाने वाला सबसे ज्यादा कारगर तरीका है जिसके द्वारा आदिवासियों की वन भूमि को बिना उनकी पूर्व अनुमति या सहमति के बडे औद्योगिक घरानों को हस्तातरित कर दिया जाता हैं। इस प्रकार इस शोध में उन तमाम राजनीतिक दौहराव भरी नीतियों के साथ-साथ किस प्रकार बडे स्तर पर एक की हानि पर दूसरे को विकास के फायदे पहुँचाने की राजनीति के साथ वनों से जुडे आदिवासियों की पहचान और न्याय की प्रक्रिया पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है ताकि वर्तमान समय में आदिवासियों की हकदारी और पहचान के दायरों को पहचाना जा सके।

2. वन एक सांझा अस्तित्वः हकदारी और आन्दोंलन

साठ और सत्तर के दशक में भारत में पर्यावरणीय चिंता के प्रति 'ग्रासरूट संवेदनशीलता' को देखते हुये पर्यावरणीय आन्दोंलनो का दौैर आरंभ हुआ। इस संदर्भ में माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा व घनश्याम शाह सरीखे पर्यावरणवेताओं नें पर्यावरण को औपनिवेशिक दौर से ही काफी महत्वपूर्ण

1 McNeill, R. (2000*). Something New Under the Sun: An Enviromental History of the Twentieth Century. Xiii-Xiv, pp. 3-17,* London, Penguin, Allen Lane.

मुद्दा बताया है। इनके अनुसार भारतीय पर्यावरणीय समस्या का आरंम्भ औपनिवेशिक दौर में हो गया था। जब अंग्रेजों ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर मजबूत पकड़ बनाने के लिये 1864 में वन विभाग के जरिये पर्यावरण को राज्य की संपदा घोषित करते हुये वनों में रहने वाले आदिवासियों को वनों से बहिष्कृत कर दिया।2 1970 के दौर से इन 'ग्रासरूट विद्रोहो ' का रूप राष्ट्रीय हो गया, जिसका कारण समकालीन समय में बनाई गई नीतियों में वनों से आदिवासियों को पूर्ण रूप से बर्खास्त कर उनके अधिकारों पर कानूनी पाबंदी लगाना रहा3 जिसे आज हम विस्थापन के रूप में महसुस कर सकते हैं।4 इन सामाजिक आंदोलनों के विषय में विचारको के अलग-अलग मत है जैसे 'सिंह' इन आंदोलनों के उठने का कारण आपसी संगठन और सामुदायिक चेतना के भाव को मानते है जिसके तहत स्थानिय लोगों द्वारा अपने गुस्से को प्रकट करने का तरीका कानून का पालन न करना होता है।5 इस प्रकार के आंदोलनों में वन सरंक्षण व स्थानिय सामुदायिक अधिकारों व मान्यताओं से जुड़ा होता है जिसे कई विख्यात विचारको जैसे 'रजनी कोठारी' सरीखे विद्वानों ने 'गैर दलिय राजनीतिक प्रक्रिया' तो कई विद्वानों ने 'सामाजिक आन्दोंलन' कहा हैं। इस प्रकार के जनजातिय आंदोलनों को 'महापात्र' ने मुख्य तीन भागों में विभाजित किया है जिसका पहला रूप है 'प्रतिक्रियावादी आंदोलन' जो मुख्य रूप से पुराने दिनों को पुनः बहाल करने के लिये किये जाते हैं। दूसरे प्रकार के आंदोलन को 'रूढ़िवादी आंदोलन' कहा गया है जो यथास्थिति बनाये रखने पर जोर देते है, और तीसरा प्रकार 'संशोधनवादी आंदोलन' का है जो सामाजिक व्यवस्था में सुधार हेतु किये जाते हैं।6 'महापात्र' ने अपने अध्ययन में उपरोक्त विभाजित आंदोलनों की श्रेणी को दूर रखा है क्योकि इस विषय में महापात्रा का मानना है कि आज के सामाजिक आंदोलन केवल बदलावो तक ही सीमित नही रह गये है अपितु आज राजनीतिक दल इन आदिवासी समुदायो की जमकर राजनीतिक गोदबंदी कर उनके मुद्दों को अपने हित में इस्तेमाल करते हैं। बिहार, छतीसगढ़ कुछ ऐसे राज्य है जहाँ आदिवासी समुदाय राजनीतिक दलो के रूप में उभर रहे हैं। बरहाल फिर भी इस बात से इंकार नही किया जा सकता है कि अब स्थानिय स्तर पर सामाजिक आंदोलनों की चिंता 'हकदारी' तक सीमित न रह कर 'दावो' के रूप में उभर कर सामने आ रही हंै। जिसके मुख्य दो कारण रहे है पहला कारण आदिवासियों की धार्मिक मान्यताये है जिसके विषय में 'डेविड हार्डिमैन' ;1987द्ध कहते है कि आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले आंदोलन का मुख्य कारण उनकी धार्मिक चेतना पर पड़े प्रभाव को भी माना जा सकता है जो प्राचीन काल से इनकी सामाजिकता का केन्द्र रहा हैं।7

मसलन, इस प्रकार के असंतोष का कारण राज्य और स्थिानिय लोगों के बीच व्याप्त अलगाव को माना जा सकता है जिसके कारण कभी भी स्थानिय मांगो को उतनी अहमियत नही दी जाती। इस रवैये का दूसरा और बड़ा कारण आर्थिक असंतुलन भी हैं। जिसके चलते सदैव विकास का होड में इन आदिवासियों या समाज के गरीब तबको के माथे फोड़ा जाता हैं। इसी आर्थिक समस्या का एक पक्ष इन जातियो के पुर्नवास का भी है जिसके कारण लगातार इनके अधिकारों की मांग जोर पकड़ रही हैं। उदाहरणतः पिछले कुछ वर्षो में 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' के बाद से स्थानिय लोगों ने बांधो के निर्माण के विरोध में कई आंदोलन उठाये है क्योकि इन बांधो के निर्माण के चलते बड़ी संख्या में आदिवासियों को उनके मूल स्थान से पुर्नस्थापित किया जाता रहा हंै। कुछ स्थानो पर आदिवासियों ने अधिक मुआवजे और एक बेहतर पुर्नवास नीति की मांग भी की है साथ ही उन्होंने विकासवादी माॅडल की आलोचना करते हुये यह भी कहा है कि ऐसा विकास किस काम का जो लोगों को उनके प्राकृतिक संसाधनों से दूर कर उन्हें वन संबंधी अधिकारों से दूर कर दे । अतः यह कथन स्पष्ट रूप से आदिवासियों के सरकार के प्रति गुस्से का परिचायक हैं।8

इन विद्वानों का कहना है कि वनों पर नियंत्रण बनाने के इस खेल में अपने प्रयासो को भूनाने के लिये अंग्रेजों ने कानूनी नीतियो का दाव खेला जिसके परिणामस्वरूप वनों के संदर्भ में कई नियंत्रणकारी नीतियों का निर्माण किया गया। जैसे 1885 का बाम्बे फारेस्ट इनक्यूआयरी कमीशन, 1913 का मद्रास प्रेसिडेन्सी एक्ट, 1927 का भारतीय वन अधिनियम आदि। यह कुछ ऐसे अधिनियम रहें जिनके द्वारा अंग्रेजों ने वनों में रहने वाले आदिवासियों को 'अतिक्रमणकारी' कह कर उन्हें उनकी वन सम्पदा से पूर्ण रूप से बहिष्कृत कर दिया।9 विश्लेषणकर्ताओं के अनुसार वनों से आदिवासियों के बहिष्करण का दौर ऐसा नही है के अंग्रेजी शासन के समाप्त होने के पश्चात् खत्म हो गया अपितु वनों के संदर्भ में तो सदैव औपनिवेशिक दौर की नीतियों की नियमितता बरकरार रखी गई हैं। वनों के संदर्भ में न तो राज्य के नियंत्रण में कमी आई और न ही शोषण का दौर रूका, बस एक के बाद एक नियंत्रणकारी नीतियों के निर्माण का तरीका बदला हैं। चाहे फिर वो 1952 की पहली राष्ट्रीय वन नीति हो जिसमे 1927 की वन नीति को सही बताते हुये सुधार के नाम पर 'सार्वजनिक हित' को 'राष्ट्रीय हित' में परिवर्तित कर दिया गया, और वनों पर राज्य के नियंत्रण को और मजबूत करते हुये वनों

---

2 Gadgil, M. and Guha, R. (1992). *This Fissured Land: An Ecological History of India.,* Delhi, Oxford University Press.

3 *"Forest Conservation Act 1980"* Ministry of Law and Justice, New Delhi.

4 यहाँ यह ध्यान देना अति आवश्यक होगा कि आदिवासियों द्वारा वनों पर अपनी संपूर्ण निर्भरता का यह दौर कोई आज की उपज नही है अपितु यह विरोध औपनिवेशिक दौर से ही चला आ रहा है। उदाहरण *'बिरसा मुंडा का विद्रोह'* परन्तु यह बात भी सत्य है कि इन सामाजिक विद्रोहो का यह रूप उस समय कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित था अधिक विवरण के लिये देखें Kothari, A. (2005). *"Burning in the Jungle"* in *Seminar: 552*, Augest.

5 Singh, K. S. (1986). *Agrarian Dimentions of Tribal Movements.* in *Agrarian Struggles in India after Independence.* (ed.) Desai, A. R., New Delhi.

6 Mahapatra, A. K. (1968). *Social Movements Among Tribal in Eastern India.* Sociologies, 18(1).

7 Hardiman, D. (1984). *Adivasi Assertion in South Gujarat: The Devi Movement of 1922-23.* in Subaltern Studies III, (ed.) Guha, R., Delhi, Oxford University Press.

8 Baviskar, A. (1995a). *The Political Use of Sociology for the Depressed in Maharashtra.* in '*Land Reforms in India: Performance and Challenges in Gujarat and Maharashtra.* (ed.). Shah, G. and Sha, D.C, New Delhi, Sage Publications.

9 Munshi, I. (2012). *The Adivasi Question: Issues of Land, Forest and Livelihood*, Economic and Political Weekly, Orient Blackswan, New Delhi, pp.1-3.

को चार श्रेणीयो में बांट कर वनों से आदिवासियों को बहिष्कृत कर दिया जाना हो या फिर 1980 और 1988 की वन नीति, सभी में राज्य द्वारा वनों पर नियंत्रण के संदर्भ में औपनिवेशिक तरीके को ही अपनाया गया।

इन नीतियो के कारण भारत में वनों के संदर्भ में कई जन-आंदोलनों का उभार हुआ। वनों के सरंक्षण के संदर्भ में स्थानिय आंदोलनों के इतने विस्तृत रूप में उभरने का कारण भारतीय वन सम्पदा को स्थानिय लोगों द्वारा एक सांझा संसाधन मानना रहा है जिसके कारण कई समुदाय वनों से अपनी पहचान को जोड़कर देखते आये हैं। अतः वनों से जुड़े आदिवासियों के अस्तित्व पर मुख्य रूप से औपनिवेशिक दौर से ही विवाद रहा है क्योकि आमतौर पर इस बात पर हमेशा असहमति रही है कि वनों के किन स्त्रोतो को मुख्य संसाधन मानते हुये राष्ट्रीय हित के लिये उपयोगी माना जाये और इन संसाधनों पर किसका नियंत्रण स्थापित किया जाये? अथवा किसको वनों के संसाधनों का वास्तविक सरंक्षक माना जाये? उन आदिवासियों को जिनका सम्पूर्ण अस्तित्व आज भी वनों से आरंम्भ और वनों पर ही खत्म हो जाता है, या उन नीति निर्माताओ को जो लोकतांत्रिक व्यवस्था की दुहाई देते हुये औद्योगिक घरानों के हितों में नितियों का निर्माण कर रहे है। इस सब में यह सवाल भी उठता है कि क्या वास्तव में शहरो में बैठ कर कोई शहरी नौकरशाह बाबू वनों में रहने वाले आदिवासियों के लिये न्यायपूर्ण नीतियों का निर्माण कर सकते हैं?

मसलन सरकार की ऐसी डावाडोल स्थिति से यह स्पष्ट है औपनिवेशिक दौर से ही वनों से जुड़ा सांझा अस्तित्व का मामला सदैव अधर में ही लटकता रहा है । क्योकि वनों को हमेशा फायदे का सौदा माना जाता रहा हैं और प्रत्येक सत्ता इन मुद्दो को अपने लाभ के लिये इस्तेमाल करती आई हैं। इस सब में यह बात भी बहुत महत्वपूर्ण है कि 1996 में बना 'पेसा'(PESA) पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार अधिनियम) 1996, कुछ ऐसे अधिनियमो में से है जिसमे वनों के संदर्भ में राज्य ने कल्याणकारी भूमिका निभाते हुये वनों पर स्थिानिय नियंत्रण को महत्व दिया और साथ ही ग्राम सभा को शक्तिशाली बनाया। अतः वनों पर आदिवासियों के सामुदायिक अधिकारों को बढ़ावा और तब मिला जब 2006 के वन अधिकार अधिनियम के निर्माण के द्वारा वनों पर आदिवासियों के सामुदायिक अधिकारों की स्वीकृति को 'ऐतिहासिक अन्याय' कह कर स्वीकार लिया गया और वनों पर आदिवासियों के मालिकाना हक देने के प्रावधान किये गये। इस प्रयास को राज्य का सकारात्मक प्रयास माना गया परन्तु इसकी कानूनी पेचीदगियों के आधार पर इस अधिनियम की भी आलोचना की जाती रही है।

3. वन फायदे का सौदा बनाम आदिवासी सामुदायिक अधिकारों का पिछड़ता मुद्दा

वनों को फायदे का सौदा अंग्रेजी साम्राज्य द्वारा माना गया जब उन्होने भारतीय वन सम्पदा के मुल्य को पहचानते हुये यहाँ की वन सम्पदा के पलायन हेतु 1856 में रेलवे का निर्माण किया। क्योकि वह जानते थे कि भारतीय वन इतने विस्तृत है जिनसे निकलने वाले खनिज से एक मजबूत अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है और अपने इन्हीं मनसूबो को मूर्त रूप देने के लिये उन्होने 1864 में वन विभाग का निर्माण भी किया। इस विषय में 'रामचद्र गुहा' का मानना है कि अंग्रेजों द्वारा वनों पर नियंत्रण करने के पिछे विकास और एक मजबूत अर्थव्यवस्था की रणनीति काम कर रही थी जिसके चलते अंग्रेजो द्वारा प्राकृतिक संसाधनो पर कब्जा करने की कोशिश की गई।10 यद्यपि ऐसा नही है कि केवल अंग्रजों ने ही वनों को फायदे का सौदा समझा अपितु आजादी के पश्चात् जब भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक लोकतंात्रिक व्यवस्था घोषित की गई तब भारत ने भी विकास और एक मजबूत अर्थव्यवस्था के लिये वनों व वनों से प्राप्त संसाधनांे की ओर आस की दृष्टि से देखा और उसी की तर्ज पर एक मजबूत अर्थव्यवस्था की नीव रखी। जिसके परिणामस्वरूप उत्तर-औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक और तकनीकी विकास का दौर आरंभ हुआ। इस दौर में वनों के दोहन का तरीका औपनिवेशिक दौर से इसलिये उलग था क्योकि जहाँ औपनिवेश्कि दौर में वनों पर नियंत्रण की चाह मुख्य रूप से लकड़ियों तक सीमित थी वह उत्तर-औपनिवेश्कि दौर में लकड़ियों के साथ-साथ वनों से निकलने वाले दुर्लभ व मूल्यवान खनिज पदार्थो तक भी विस्तृत हो गई। क्योकि इस समय भारत के लिये आर्थिक मजबूती प्रथम वरिर्यता और बाकी सब क्षेत्र 'अन्य' की श्रेणी में समाहित किये जाने लगे थे। जिस स्तर पर न तो पहले इन आदिवासियों के अधिकारों और आवश्यकताओं की कोई अहमियत थी और न ही अब।

अतः इस दौरान हुये दो विश्व युद्ध यह बात स्पष्ट कर ही चुके थे कि किसी देश की आर्थिक मजबूती अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उसके स्वतंत्र अस्तित्व के लिये कितनी आवश्यक हैं। इस तरह इन विपरीत परिस्थितियों से ही सबक लेते हुये भारत ने विकास को महत्व दिया तथा नेहरूवादी विकास माडल को स्वीकार किया और तीव्र विकास स्तर को प्राप्त करने के लिये भारी औद्योगिक विकास का रास्ता चुना। मसलन इस समय भारत द्वारा पर्यावरण को अन्य या द्वितीय की श्रेणी में रखने का कारण यह रहा कि 1980 के आरंभ में ही विकास का एक ऐसा माडल पेश करने का प्रयास किया गया जिसमें 'इकोलाजी' और 'समानता' दोनो को ही समान महत्व दिया गया था ।11

यह समानता संसाधनों की समानता न होकर आर्थिक दौड़ में शामिल होने की प्रतिस्पर्धा की ओर झूकी थी जिसकी आड़ में वन संसाधनों को अंधाधुंध काटा गया। प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी द्वारा स्टोकहोम 1972 पर्यावरण विश्व सम्मेलन में दिये गया भाषण को महत्वपूर्ण माना जा सकता है जिसमे इंद्रिरा गाँधी ने गरीबी को पर्यावरण क्षंरण से बड़ा दानव बताते हुये कहा कि 'हम नही चाहते कि पर्यावरण और बर्बाद हो लेकिन हम एक पल के लिये भी यह नही भूल सकते है कि बड़ी संख्या में लोग गरीबी से जूझ रहे हैं। क्या गरीबी और जरूरत सबसे बड़े प्रदूषक नही है। गरीबी की स्थिति कायम

10 Guha, R (2000). *Environmentalism: A Global History.* Delhi, Oxford University Press.

11 Guha and Martinez, A. (1997). *Varieties of Environmentalism, North and South*, Delhi, Oxford University Press.

रहने तक पर्यावरण में सुधार नही किया जा सकता और सच यह भी है कि विज्ञान और तकनीकी विकास के बिना गरीबी खत्म नही की जा सकती।'12 इस तरह तथाकथित राष्ट्रवादी विचारधारा द्वारा हमेशा विकास को महत्व दिया जाता रहा हैं। दरअसल स्टोकहोम में पर्यावरण सरंक्षण पर देशो के मध्य आम सहमति जरूर रही परन्तु यह आम सहमति पर्यावरण सरंक्षण के संदर्भ में कम ही प्रभावकारी रही क्योकि पर्यावरण के प्रत्येक विश्व सम्मेलन में विकसित राष्ट्र हमेशा अधिक 'कार्बन उत्सन' का कारण विकासशील देशो पर यह कह कर थोपते आये है कि यह देश जल्दी विकसित राष्ट्र की श्रेणी में शामिल होने के लालच में तीव्र गति से अपने देशो में भारी औद्योगिकरण का विस्तार कर रहे हैं। अतः वास्तव में यही अधिक कार्बन उत्सर्जन के जिम्मेदार है। और वहीं विकासशील देश यह दलील देते आये है कि क्यांकि विकसित देशो में पहले औद्योगिकरण आया है इसलिये यही पर्यावरण में ज्यादा कार्बन उत्सन के जिम्मेदार हैं।

बहरहाल अब आगे यह समझना आवश्यक होगा कि पर्यावरण जहाँ फायदे का सौदा रहा है वहीं इनसे जुड़े आदिवासी समुदायों के अधिकारों में राज्य द्वारा औपनिवेशिक दौर से अब तक काफी काट छांट की गई है जिसके चलते आज यह जंगलो के राजा कहलाने वाले समुदाय हाशिए की स्थिति में आ खड़े हुये हैं। अतः आगे इसी विवाद का आंकलन किया गया है कि वास्तव में आदिवासी समुदाय वनों के सरंक्षण में घातक है या उपयोगी? वनों में रहने वाले आदिवासी समुदाय आज की मेट्रोपोलिटन विकासवादी व्यवस्था में किन स्तरो तक पीढ़ित रहे है और कानूनी व्यवस्था कहाँ तक इन्हें इनके अधिकार दिलवा पाई हैं? वनों के सरंक्षण के संदर्भ में कई विचारधाराये है जैसे जहाँ राष्ट्रवादी विचारधारा ने पर्यावरणीय संसाधनों को राज्य का नियंत्रण क्षेत्र मानते हुये राष्ट्रवादी हित को सर्वोच्चता दी, वही 'हाईमोर्डरनीज़मवादी विचारधारा'13 के खेमो ने विकास को सर्वोपरी मानते हुये वनों को द्वितीयक वरीर्यता वाला क्षेत्र माना। इसी तरह 'मध्यमवर्गीय विचारधारा' ने एक निश्चित ऐजंडा के तहत वन नीतियों तक अपनी पहुच बनाई ,जिसके तहत जंगल के आदिवासी समुदायों ने मिश्रित जंगलो को समाप्त कर उनके स्थान पर एक ही तरह के वृक्षो के रोपण की वन विभाग की नीति का विरोध किया। इन सब विवादो में सरंक्षणवादी और पर्यावरणवादी विवाद काफी महत्वपूर्ण रहे हैं। सरंक्षणवादी विचारधारा वन नीतियों में इतनी प्रभावकारी रही है कि उनकी वन जीवन के सरंक्षण के लिये जो चिंता है वह केवल जंगली जानवरों के सरंक्षण तक ही सीमित रही है जिसके तहत वनों में रहने वाले जंगली जानवरों के विकास के लिये मानवीय उपस्थिति को घातक मानते हुये 'क्रिटिकल वाईल्ड लाईफ हेबिटेट' (सीडब्ल्यंएच) का निर्माण किया गया हैं। वहीं दूसरी विचारधारा 'पर्यावरणीय' या 'ईकोलाजिकल' विचारधारा है जो जंगलो को आदिवासियों के अस्तित्व व जीविका से जोड़कर देखते है तथा जंगलो में आदिवासियों के पारम्परिक अधिकारों की मांग करती हैं। यह विचारधारा वास्तव में वनों में आदिवासी या मानवीय उपस्थिति को जंगली जैव-विविधता के लिये घातक न मानकर सहजीवी मानती हंै। इसी विचारधारा की तर्ज पर वनों में रहने वाले आदिवासी समुदायों ने वन संसाधनों पर हकदारी की मांग की हैं।

4. संवैधानिक सरंक्षण और आदिवासियों वन न्याय की स्थिति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय व्यवस्था में संवैधानिक व सामाजिक रूप से कई परिवर्तन आये जिसके तहत आदिवासी समुदायों को संविधान द्वारा अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में शामिल करते हुये उन्हें संवैधानिक दायरे में लाने के लिये व इन समुदायों के अलग से प्रबंधन हेतु संविधान में अनुसूची 5 और 6 का गठन किया गया। इस तरह जहाँ संविधान की अनुसूची 6 में उत्तर-पूर्व में आने वाले राज्यो को स्वायत्त जिलो के रूप में गठित किया गया, वहीं अनुसूची 5 में अन्य अनुसूचित जाति व जनजाति बहुल क्षेत्रों को शामिल करते हुये वन संसाधनों के संदर्भ में इन्हें कई अधिकार भी दिये गये। परन्तु यदि आजादी के बाद की भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थितियों पर ध्यान दिया जाये तो विकास और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिये भारत ने नेहरू के नेतृत्व में बडे आद्यौगिक विकास को चुना जिसके लिये भी भारत ने जंगलो में उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा और स्त्रोतो को कच्चे माल की खान समझा और वहाँ से अंधा धुध प्राकृतिक संसाधनांे को निकाला जाने लगा।

मसलन वनों में रहने वाले समुदायों के निजि जीवन में राज्य का हस्तक्षेप अब स्वदेशी रूप में बढ़ा जिसके चलते इन समुदायों की वनों से जुड़ी आवश्यकताओं को अब आधुनिक राष्ट्र राज्य विकास की दौड़ में पिछे छोड़ता चला गया। विकास के नेहरूवादी माडल की गति को प्राप्त करने का हर्जाना वनों के साथ-साथ वनों पर निर्भर समुदायों को इस रूप में भुगतना पड़ा कि अब औद्योगिक घरानो की मांग को पूरा करने के लिये आदिवासियों पर जबरन राष्ट्रवादी विचारधारा थोपते हुये उन्हे वनों से दूर किया जाने लगा। इस तरह इस दौरान औद्योगिकरण और राष्ट्रवाद के मध्य एक विवाद छिड़ गया जिसकी आड में औद्योगिक वर्गो ने अपने फायदों के लिये 'भारतीय राष्ट्रवाद' को अपने अनुसार तोेड़ मरोड़ कर इस्तेमाल किया। इन सब का परिणाम हम आज बडे स्तर पर वन भूमि में होने वाले खनन व आदिवासियों को विस्थापन के रूप में देख सकते है जिसमें सरकार द्वारा सब्सीसाईड खनन कम्पनीया और पावर प्लांट तीव्र गति से आदिवासियों के अधिकारों की हानि पर लाभ उठा रही है।

आजादी के पश्चात् भारत में वनों व वन भूमि सहित उससे प्राप्त संसाधनों पर नियंत्रण के लिये बहुत से कानून बनाये गये जिसमे 1981 में कृषि मंत्रालय द्वारा जारी मसौदा रहा जिसे द ड्राट फारेस्ट बिल 1981' कहा गया। इस मसौदे ने उस मुद्दे को और मजबुती से नियंत्रित किया जिसे लेकर चिंपको आंदोलन हुआ था । क्योकि चिपको अंदोलन में स्थानिय विद्रोह सामुदायिक वन अधिकारों के संदर्भ में उभरा था। इसलिये इस मसौदे द्वारा सरकार ने वनों पर परम्परागत आदिवासी अधिकारों को पूर्णतः नकार दिया। इसके कारण इस मसौदे को ''द इंडियन स्टेट मोनोपली ओवर फारेस्ट

12 Gandhi, I. (1972). *Man and His World]* Speech at UN Conference of the Human Environment, Stockholm, 14. June. 1972, and Gandhi, I. (1983). *On Peoples and Problems*] Hodder and Stoughton, London 1982, 2nd Edition, 1983, pp. 60-67.

13 Anderson, B. (1983). *Imagined Communities: Reflections On the Origin and Growth of Nationalism*- Publication, London, Verso.

एक्ट तथा द इंडियन फारेस्ट आफेन्स कोड" भी कहा गया।14 इस मसौदे की मुख्य विशेषता यह थी कि इसने वनों के संदर्भ मंे वन विभाग सहित वन अधिकारियों को न्यायिक शक्तियाँ भी प्रदान की। मसलन अब अधिकारियों को आदिवासियों पर किसी भी प्रकार के वन अपराधो के संदर्भ में कार्यवाही कर उनके अधिकारों में काट छांट से लेकर दंड तक देने की शक्ति भी दे दी गई थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि अब वन अधिकारी जबरन किसी भी आदिवासी की भूमि को जब्त कर उस पर अपराधिक कार्यवाही कर सकते थे। फिर इस मसौदे को 'सेन्ट्रल बोर्ड आफ फारेस्ट्री' को हस्तांतरित कर दिया गया। जिसके द्वारा अब 1927 की वन नीतियों को और मजबुती से लागू किया गया साथ ही 1963 में लागू किये गए वन अधिनियम के द्वारा वनों को वन विभाग राजस्व नियंत्रित क्षेत्र घोषित कर, यह स्पष्टतः कह दिया गया कि संसद इस संदर्भ मे कोई कानून नही बना सकती क्योकि इस समय वन केन्द्रिय सूची का भाग थे।15

इसी प्रकार वनों पर नियंत्रण का विस्तार पाँचवी और छठी पंचवर्षीय योजना द्वारा विस्तृत हुआ जिसमें 'मोनो प्लान्टेशन' तथा उन वनों व संसाधनों के विकास व सरक्षंण पर जोर दिया गया जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे जिसमे कच्चे माल की आपूर्ति के लिहाज से उपयोगी जल स्त्रोतो, भूमि, वन देवदार, टिक जैसे मुल्यवान संसाधनों के सरंक्षण हेतु कानूनी दिशा निर्देश लागू किये गये। यहाँ इस बात का जिक्र करना जरूरी होगा कि 1952 की राष्ट्रीय वन नीति में भी 'जंगली जानवर सरंक्षण नीति लागू' की गई थी, जिसमे कुछ खास जंगली जानवरों जैसे चीता, शेर, जंगली सुअर आदि जानवर शामिल थे। अतः इन जानवरो की रक्षा के लिये सेन्चुरी और बायोस्पेयर क्षेत्रो को भी शामिल किया गया था और इस संदर्भ मे नीति बनाने के लिये एक अलग व स्वायत्त मंत्रालय का गठन किया गया। इस प्रकार यहाँ मेरा मत यह है कि स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक रूप से अब वनों का न सिर्फ शोषण किया जाने लगा, अपितु जंगली जीवन के सरंक्षण के नाम पर सिर्फ मूल्यवान जानवरों को सरंक्षण दिया जाता रहा है जिसमें बायोस्पेयर और सरंक्षित क्षेत्रों का निर्माण मात्र शोषण का सरंक्षणवादी नजरिया है जिसे राजनीतिक रूप से आदिवासियों के शोषण के लिये लगातार औपनिवेशिक विचारधारा के साथ आदिवासियों के अधिकारो में काट छांट करने के लिये चलाया जा रहा है

5. कानूनी पेचीदगियों में उलझते आदिवासी सामुदायिक वन अधिकार

भारतीय संविधान बड़े विस्तृत स्तर पर आदिवासी मूल्यो व सदंर्भो का गठन न सिर्फ अपनी कानूनी प्रणाली में करता है अपितु इसके लिये उसने मौलिक अधिकारों के अनुच्छेद 14, 21 और 29, जो क्रमशः कानून के समक्ष समानता, जीवन के अधिकार और अल्पसंख्यको के हितों के सरंक्षण से संबंधित है, सहित मौलिक कर्तव्यो व नीति निर्देशक सिद्धान्तो[1] अनुच्छेद 48ए में भी स्पष्ट रूप से आदिवासियों को अनुसूचित जनजातियो की श्रेणी में शमिल करते हुये सरंक्षण प्रदान किया है।16 जिसमें संविधान की अनुसूची पाँच व छः आदिवासी अधिकारों के संदर्भ में अपनी एक अलग ही पहचान रखती है और इन्हीं तथ्यांे को ध्यान में रखते हुये आदिवासियों की सार्वजनिक क्षेंत्र तक पहुच को सुनिश्चित करने के लिये सरकारी पदो व राजनीतिक प्रतिनिधित्व और भागीदारी के संदर्भ में इन्हें आरंक्षण देने का प्रावधान भी किया गया है । परन्तु फिर भी सदैव आदिवासियों के अधिकारों की मान्यता का विषय विवादास्पद रहा हैं। क्योंकि लिखित रूप में तो संविधान में आदिवासियों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक समानताओं के साथ उनकी मान्यताओं को बनाये रखने का अधिकार दिया गया है परन्तु यहाँ फिर भी आज यह सवाल लगातार खडा रहता है कि क्या वास्तव में आदिवासी इन अधिकारों को प्राप्त कर पाये हैं? क्या अब भी विकास व परमाणु ऊर्जा के दौर में इनकी सांस्कृतिक मान्यताए व मूल्य सरकार बचा पाने में समर्थ रही हैं? इस संदर्भ में विद्युत जोशी अपनी पुस्तक 'ट्राईबल सिचुएशन इन इंडियाः ईसूज इन डेवलपमेंट विद स्पेसल रेफरेन्स टू वेस्टर्न इंडिया' में मुख्य तीन कारणो को महत्वपूर्ण मानते हैं। अलगाववाद, सम्मिलन और अनुकूलन । जवाहरलाल नेहरू ने इस तीन कारणो में से अनुकूलन को अपनाते हुए आदिवासियों के उत्थान व उनकी सांस्कृतिक व सामाजिक निजता को बरकरार रखने के लिये 'पंचशील' का सिद्धंत अपनाया था।17

पंचशील के इस सिद्धंात का विस्तृत विवरण 'वेरियर एल्विन' द्वारा लिखित पुस्तक 'ए फिलोसोफी आफ नेफा' मे मिलता है जिसका पहला सिंद्धात कहता है कि यह लोग (आदिवासी) अपनी योग्यता व बुद्धिमत्ता के अनुरूप अपनी परम्पराओं और सांस्कृतिक सभ्यता के सहारे अपना विकास करेगें जिसके सदंर्भ में इन पर किसी भी प्रकार का दबाव नही डाला जायेगा। दुसरे सिद्धंत में भूमि और वन संबंधी जनजातिय अधिकारों का सम्मान किया जायेगा। तीसरे सिद्धंत के अनुसार प्रशासन और विकास के कार्या को अंजाम देने के लिये जनजातीय समुदाय स्वयं के समूह का निर्माण करेगें और उन्हें प्रशिक्षित करेगें।18 चोथे सिद्धांत के अनुसार इन जनजातिय क्षेत्रों को बहुसंख्यक कार्यक्रमो के जरिये अति-प्रशासित होने से बचाना है। अंतिम पाँचवे सिद्धांत में उनके सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानो के विरोध की बजाय उनके अनुरूप और उनके माध्यम से उनका विकास करना हैं। अतः इन पाँचो सिद्धंतो में पहले सिद्धांत में ही कहा गया है कि यह लोग (आदिवासी) स्वयं अपनी योग्यता व बुद्धिमत्ता के अनुसार अपनी समस्या ओं व विकास को बहाल करेगें व अपने संसाधनों पर नियंत्रण रखेगे। परन्तु यदि हम उपरोक्त विभिन्न नीतियों पर एक नज़र दौडाये तो हमे पता चलेगा कि

---

14 Pathak, A. (1994). *Contested Domains: The State, Peasants and Forests In Contemporary India*- New York, Sage Publications.

15 Government of India, 1976, pp. 36.

16 *The Constitution of India, As Amended By The Constitution (Ninety-eighth Amendment) Act 2012*. New Delhi, pp. 204-206, Universal Law Publishing.

17 Joshi, V. (1998). *Tribal Situation In India: Issues In Development With Special Reference to Western India*. Delhi, pp. 13, Rawat publication.

18 Mahapatra, L. K. (1994). *Tribal Development In India: Myth and Reality* New Delhi, pp. 1-2, Vikas Publishing House.

इनमें से एक भी सिद्धंात आज तक फलीभूत नही हो पाया हैं। जिसका कारण नीतियों का लिखित रूप में ही कागजो में सिमट कर रह जाना हैं। अतः ऐसे में पेसा जैसे अधिनियम भी मात्र सरकार का मीठा लडडू ही साबित हो कर रह जाते हैं।

इस तरह सरकार की इस आधी-अधुरी रणनीति के विषय में 'गोविन्द चन्द्रा' का मानना हैं कि आदिवासियों के संदर्भ में अपनाई गई नीतियो को, नीतियो के निर्माण के पश्चात् और तवज्जो की जरूरत होती है जिसे मानव विकास का एक और 'अन्य विकास'19 कहते हैं जिसे कभी भी भारतीय कानूनी व्यवस्था ने आदिवासियों के संदर्भ में नही अपनाया।20 उसके विपरीत वे बस इन नीतियो को राज्य नौकरशाहो के अधिन कर उन्हें उन्ही के जरिये लागू करने पर जोर देता है।21 उदाहरण पेसा अधिनियम 1996, जिसमे पंचायतो व ग्राम सभाओ को सामुदायिक वन संसाधन के विषय में निर्णय लेने के अधिकार तो दे दिये गये परन्तु भूमि अधिग्रहण जैसे बड़े मुददो के सदर्भ में अंतिम निर्णय राज्य द्वारा लेने पर जोर दिया गया। जो स्पष्ट रूप से औपनिवेशिक शोषण की उत्तर-औपनिवेशिक दौर में निरंतरता का उदाहरण हैं।22 इसे नंदनी सुंदर 'कानूनी बहुलवाद' कहती है जो नीतियों के संदर्भ में राज्य, गैर राज्य संदर्भ में व्यवस्था को समान रूप से छिपाता हैं। यहाँ मेरा सदंर्भ नीचले स्तर पर लागू किये जाने वाले कानूनो व नीतियो से है जो प्रत्येक स्तर पर बदलती रहती है जिसका कारण स्थिानिय स्तर पर सरकार का अलग स्वरूप व राज्य स्तर पर अलग और केन्द्रिय स्तर पर अलग स्वरूप होना है जो अपने हितो के अनुसार कानूनो की परिभाषा को बदलता रहता है। 23 इस संदर्भ में न्यायपालिका की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैंजिसे संविधान की व्याख्या करने की न केवल संवैधानिक शक्ति प्रदान की गई हैं अपितु इसे ही मात्र संविधान का सरंक्षक भी घोषित किया गया है। मसलन उत्तर-औपनिवेशिक दौर में जैसे-जैसे वन विभाग और पर्यावरण विभाग ने नीतियों का निर्माण किया वैसे-वैसे न्यायपालिका ने उन पर वैधता की मोहर लगाकर, तमाम भूमि अधिग्रहण करने वाले शोषणकारी कानूनों को न्यायिक जामा पहनाने का काम किया। यद्यपि यह नीतियाँ सामाजिक रूप से संतुलित न होकर केवल उनके हितों के अनुसार बनाई जाती रही है जो इन प्राकृति स्त्रोतां व संसाधनों पर कानूनी व राज्य के सार्वजनिक ऐजेन्ट होने का दावा करते आये हैं। क्योकि भारत में कानून किसी भी उदारवादी सरकार की तरह वर्चस्व और विरोध के तरीको दोनों को साथ लेकर चलते हैं इसलिये उत्तर-औपनिवेशिक दौर के राज्य ने भी इसी उदारवादी हित को ध्यान में रखते हुये वन नीतियों का निर्माण किया।

इस विषय में सिंह और पाठक कहते है कि राज्य अपने वर्चस्व को साबित करने के लिये समय समय पर ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा गढ़ी गई 'विधि का शासन' के सिद्धंत का उपयोग संवैधानिक रूप से करता आया है। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने लोकतांत्रिक व्यवस्था में साम्राज्यवादी वर्चस्व नीति को भी अपने में समाहित कर लिया। आज इन्ही कानूनी व्यवस्थायों के आधार पर भारतीय कानूनी व्यवस्था भूमि तथा प्राकृतिक संसाधनों पर आदिवासियों को सामुदायिक अधिकारों के संदर्भ में न्याय देने की बात कर रही हैं। इस प्रकार विड़म्बना यह है कि जो व्यवस्था खुद में अव्यवस्थित है वही कानून और व्यवस्था बनाने की बात कर रही है।

इस तरह कानून की परिभाषा को न तो कभी स्पष्ट किया गया है और न ही निश्चित ही किया गया हैं। इस संदर्भ में यदि हम 'सम्पत्ति के अधिकार' को देखें तो यह औपनिवेशिक दौर से ही समस्याग्रस्थ रहे हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि सम्पत्ति अधिकारों की अवधारणा ने किस प्रकार आदिवासियों को प्रभावित किया? क्योकि कई विचारको का इस विषय में मानना है कि अधिकारों पर 'सहमति' बाकी सभी अधिकारों व मान्यताओ को दोयम दर्जे पर ले आती है जैसा कि 1976 में सम्पत्ति के अधिकारों के विषय में किया गया।24 जिसमे संविधान के मूल अधिकारों की श्रेणी में समाहित सम्पत्ति के अधिकार को 44वे संविधान संशोधन द्वारा यह कहकर कि यह अधिकार सामन्तवादी व्यवस्था को बढ़ावा दे रहा है के आधार पर मूल सिद्धांतो की श्रेणी से हटा कर अनुच्छेद 300ए के अन्तर्गत् कानूनी अधिकारों की श्रेणी में शामिल कर दिया गया। इस विषय में 'बार्ज़ेल' कहते है कि किसी सहमति का कुल मूल्यांकन एक 'मालिकाना हकदारी' की मांग करता है जो कि अन्य उत्पीड़न से ज्यादा प्रभावकारी और गैर मुआवजी उत्पीड़न होता हैं।25 जैसा कि खाना बदोश, शिकारी व घुमंतु आदिवासियां के साथ हुआ जिन्हें जमीन पर पट्टा देने की रणनीति के चलते अपनी परंपरागत जीविका व संस्कृति से वंचित होना पड़ा। इस तरह सम्पत्ति अधिकारों की नीति ने न केवल उपयुक्त आदिवासी समुदायों या लोगों को प्रभावित किया अपितु उन परिस्थितियों को भी प्रभावित किया जिन पारिस्थितियों मंे इस पर सहमति जताई गई थी।26 इस प्रकार वन भूमि को सार्वजनिक भूमि से निजि भूमि में परिवर्तित करने के चलते तीन मुख्य स्तरो पर प्रकृतिक संसाधनों के संदर्भ में आदिवासियों के सामुदायिक अधिकारों पर प्रभाव पड़ा। पहला वनों से आदिवासियों का बहिष्करण, जो आधुनिक राष्ट्र राज्य ने तकनीकी और वैज्ञानिक वानिकी के जरिये किया। दूसरा प्रभाव सामुदायिक सम्पत्ति के रूप में पड़ने वाला बहाय प्रभाव था। अर्थात् सम्पत्ति के सिद्धांत को आधुनिक राष्ट्र राज्य कानूनी रूप से आदिवासियों पर इतना हावी कर चुका था कि वनों में जिस सामुदायिकता व सांझी सम्पदा का इतना गहरा प्रभाव था वह अब व्यक्तिगत सम्पत्ति में बदल चुका था जिसे मूर्त रूप पट्टा व्यवस्था ने भली भाँति दिया,

19 Heredia, R. C. (1995). "Tribal Education For Development: Need For A Liberative Pedagogy For Social Transformation" *Economic and Political Weekly.* *22* *April, pp. 891-97.*

20 Govind, C. R. and Dean, D. (2006). *Tribal Development In India: The Contemporary Debate',* New Delhi /kThousand Oaks, London, pp. 20, Sage Publications.

21 Sundar, N. (2005). "Laws Policies and Practices In Jharkhand" *Economic and Political Weekly*, Vol.40, No.41., pp. 4459-4462.

22 Sundar, N. (2009). *Legal Grounds: Natural Resources, Identity and the law In Jharkhand*-] Delhi University, Oxford University Press.

23 Ibid.

24 Kolavalli, S. (1995). "Joint Forest Management: Superior Property Rights?" *Economic and Political Weekly,* Vol. 30, No. 30 (Jul. 29)., accessed date 01. 10. 2014, 01:03.

25 Yoram, B. (1989). *Economic Analysis of Property Rights.* Cambridge. pp. 1988, Cambridge University Press.

26 Bailey, M. J. (1992). "Approximate Optimality of Aboriginal Property Rights" *Journal of Law and Economics,* vol. XXXV, pp. 183-98.

व अंतिम प्रभाव उपयोगकर्ताओ तक पहुँचने वाला कार्य सम्पादन के रूप में पड़ा। इस प्रकार इन तीनो ने पूर्ण रूप से आदिवासियों को उनकी परम्परागत धरोहर से वंचित कर दिया। यहाँ मेरा प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में क्या वास्तव मे वन अधिकार अधिनियम को विकासवादी कानून कहा जा सकता हंै? क्योकि यह अधिनियम तो निश्चित रूप से पट्टा व्यवस्था के तहत आदिवासियों को उन्हीं की जमीनों से घूसपैठिया कहकर बहार कर रहा है।27

6. आदिवासियों अधिकारों के संदर्भ में न्यायपालिका की भूमिका

स्वतंत्रता पश्चात् काँग्रेस और न्यायपालिका का एक बड़ा ही मजबूत गठबंधन रहा जिसके अंतर्गत् न्यायपालिका न्याय व कानूनो की व्याख्या के दौरान सदैव दोहरा रूप लिये रहती है जिसका उदाहरण न्यायिक पूर्ननिरंक्षण रहा हैं। जिसमे न्यायपालिका अपने ही निर्णयो को लागू करने के पश्चात् स्वयं ही उनकी संवैधानिक वैधता को चुनौती देती हंै। अपनी इस दोहरी नीति का परिचय दूसरी बार न्यायपालिका ने 'जनहित याचिका' के द्वारा दिया। जनहित याचिका के जरिये उत्तर-आपातकाल के दौरान उच्चतम न्यायलय ने अपने द्वार उन तमाम जन साधारण के लिये खोल दिये जिन्हें यह आशंका हो कि उनके मौलिक अधिकारों का हनन् हो रहा हैं।28 अतः व्यक्ति ऐसे में अपनी शिकायत को जनहित याचिका के जरिये न्यायालय तक ले जा सकता हैं। परन्तु इसी के साथ इसके अन्तर्गत् यह प्रावधान भी है कि राज्य न्यायालय के नियम में फेर बदल कर सकता है जैसा कि उच्चतम न्यायलय ने 'मेनका गांधी बनाम राज्य संघ' के मामले में किया था। 29 कुछ पहल आदिवासी वन अधिकारों के संदर्भ में भी की गई जैसे 1987 गुजरात के उदयपुर तालुके के आनंद निकेतन आश्रम ने जनहित याचिका के जनिये वनों व वन उत्पादो से आदिवासी समुदायों की बेदखली के मुद्दे को उठाया तत्पश्चात् एक और अन्य मामले 'वनवासी सेवा आश्रम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' मामले में न्यायपालिका ने अपनी दखल दी। जिसके बाद न्यायलय ने आरंक्षित वनों में सामुदायिक वन अधिकारों की बहाली की। परन्तु ध्यान देने वाली बात यह है कि न्यायपालिका के इतने सकारात्मक कार्यो के बावजुद आदिवासी क्षेत्रो में न तो शांति स्थिापित हुई और न ही सुशासन। जिसके कारण साठ के दशक से अब तक आदिवासी वन अधिकारों और न्यायिक नीतियों के मध्य सदैव छत्तीस का आंकड़ा रहा हैं। ऐसे में कई मामलो में न्यायपालिका द्वारा कई बार आदिवासियों के हित में निर्णय लिये गये जिसका उदाहरण 1997 का आंध्र प्रदेश का 'समता बनाम राज्य सरकार' का मामला है जो आंध्र प्रदेश सरकार और एक प्राईवेट कम्पनी के बीच लड़ा गया था।30

उपरोक्त मामलो से पता चलता है कि न्यायलय ने आदिवासियों के हित में निर्णय तो दिए है परन्तु उनसे आदिवासियों के जीवन में कोई खासा परिवर्तन नही आया। इस संदर्भ में यदि हम 1967 में लाई गई हरी सिंह कमीटी व 2001-02 में आई दिलीप सिंह भुरीया कमीटी की रिपोर्ट देखें तो हमें पता चलता है कि न्यायपालिका कितने लोगों तक न्याय या न्यायालय को पहुँचा पाई है। जहाँ हरी सिह कमीटी में सत्तर के दशक में यह विवरण दिया गया कि भारतीय भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 60 प्रतिशत ऐसा भाग है जिनमे आदिवासी जंगलो में रहते है31 और 30 प्रतिशत ऐसा जिनमे लोग इन जंगलो के आस पास रहते हैं। आगे इस कमीटी में यह कहा गया कि क्योकि ज्यादातर आदिवासी जनसख्यॉं वनों पर निर्भर है इसलिये इन्हें इन्ही वनों में वन उत्पादो से रोजगार कमाने की अनुमति दी जाये जिसमे राज्य का प्रयास राज्यस्व एकत्र न होकर आदिवासी समुदायों के विकास में सहायता करने का होना चाहिये। वहीं भुरीया सिंह कमीटी में पुनः सामुदायिक अधिकारों की मांग को दोहराते हुये यह कहा गया कि भले ही न्यायपालिका ने वनों के नियंत्रण को आदिवासियों से अपने हाथो में हस्तांतरित कर लिया हो तथा वनों में उनकी पूर्व अवस्था की बहाली का वादा भी कर दिया हो परन्तु फिर भी एक बड़ा हिस्सा अपनी परम्परागत कृषि व धरोहर से वंचित हुआ है जिसके चलते इनकी स्थिति में गिरावट आई हंै। उदाहरण जिन आदिवासियों का आंकडा 1961 के में 68.18 प्रतिशत था वह 1991 में गिरकर 54.50 प्रतिशत ही रह गया। अर्थात् आदिवासियों की जीविका में गिरावट पिछले 30 वर्षो में 13.68 प्रतिशत तक बड़ी साथ ही इस कमीशन में यह भी कहा गया कि अपनी जीविका में इतनी तेजी से आई गिरावट के चलते यह आदिवासी भूमिहिनता और गरीबी के शिकार हुए है जिसके कारण यह रोजगार की तलाश में अपने मूल स्थानो से पलायन कर रहे हैं।

7. निष्कर्ष

अतः इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आज जितना जरूरी भारतीय अर्थव्यवस्था को मुख्य धारा में शामिल करना है उतना ही जरूरी आदिवासियों की उनकी जमीन और संस्कृति पर पहचान को सुनिश्चित करना है। जिसके लिये आदिवासियों के अधिकारों की पहचान के साथ ही उनके कानूनी सरक्षंण को मजबूती भारतीय विविधता और वनों के सरंक्षण में आदिवासी नालिज को पहचानने की भी है। मसलन इसके लिये आवश्यक है कि राज्य द्वारा भूमि अधिग्रहण के कानूनों में बदलाव के साथ आदिवासियों के पुर्नवास जैसे मुद्दो पर नये कानूनों के निर्माण व इन कानूनों के पूख्ता रूप से लागू करवाने की आवश्यकता है।

---

27 Ibid.

28 Basu, D. D. (2011*). Introduction to the Constitution of India.* Nagpur, pp. 191, LexisNexis.

29 समता बनाम राज्य सरकार मामले में और हाल ही में आया उच्चतम न्यायलय के ओड़िशा के नियमगिरी मामला दोनो ही निर्णयों में समानता यह रही कि उच्चतम न्यायलय ने ग्राम सभा को सामुदायिक मामलो के संदर्भ में अंतिम निर्णय लेने का फैसला ग्राम सभा को दिया तथा इस बात की निगरानी भी रखी गई कि सामुदायिक वन भूमि का किसी अन्य काम में इस्तेमाल न हो। अधिक विवरण के लिये देखें *योजना, 'जनजाति एवं वंचित वर्ग', वर्ष 58, अंक 1, जनवरी 2014, पृष्ठ संख्या 18–19.*

30 Singh, H. (1967). *Report Of the Committee of India on Tribal Economy In Forest Area.* Government of India, New Delhi, pp. 107- 109.

31 Government of India. 115, 119, 121.

CONFLICT OF INTERESTS

None.

ACKNOWLEDGMENTS

None.

REFERENCES

Primary Sources

"Forest Conservation Act 1980", Ministry of Law and Justice, New Delhi.

The Constitution of India, As Amended By The Constitution (Ninety-eighth Amendment) Act 2012. New Delhi, Universal Law Publishing.

The Provision Of The Panchayats (Extension to the Scheduled Areas). Act, 1996, No.40 of 1996.

Secondary Sources

Books

Anderson, B. (1983). Imagined Communities: Reflections On the Origin and Growth of Nationalism London, Verso.

Baviskar, A. (1995a). The Political Use of Sociology for the Depressed in Maharashtra', in 'Land Reforms in India: Performance and Challenges in Gujarat and Maharashtra' (ed.). Shah, G. and Sha, D.C, New Delhi, Sage Publications.

Basu, D. D. (2011). Introduction to the Constitution of India. Nagpur, pp. 191, LexisNexis.

Carson, R. (1962). Silent Spring (Special Anniversary Edition). Houghton Mifflin, Boston.

Elwin, V. (1945). 'Sacra Fituris' Man in India 25(4), December.

Forest Conservation Act 1980" Ministry of Law and Justice, New Delhi.

Gadgil, M. and R. Guha (1992). This Fissured Land: An Ecological History of India, Delhi, Oxford University Press.

Gandhi, I. (1972). Man and his World, Speech at UN Conference of the Human Environment, Stockholm, 14 June 1972,

Gandhi, I. (1983). On Peoples and Problems. Hodder and Stoughton, London, 2nd Edition, 1983.

Govind, C. R. and Dean, D. (2006). Tribal Development In India: The Contemporary Debate', Sage Publications, New Delhi /kThousand Oaks, London.

Greenough, P. (2003). "Pathogens, Pugmarks and Political 'Emergency': The 1970's South Asian Debate on Nature" in P. Greenough and A.L. Tsing (ed.). Nature and the Global South: Environmental Projects in South and Southeast Asia', pp. 201-230, Durham: Duke University Press.

Guha and Martinez, A. (1997). Varieties of Environmentalism, North and South. Delhi. Oxford University Press.

Guha, R (2000). Environmentalism: A Global History, Delhi, Oxford University Press.

Hardiman, D. (1984). Adivasi Assertion in South Gujarat: The Devi Movement of 1922-23', in Subaltern Studies III, (ed.) Guha, R., Delhi, Oxford University Press.

Heredia, R. C. (1995). "Tribal Education For Development: Need For A Liberative Pedagogy For Social Transformation" Economic and Political Weekly. 22 April, pp. 891-97.

Joshi, V. (1998). Tribal Situation In India: Issues In Development With Special Reference to Western India. Rawat Publication.

Kothari, A. (2005). "Bungle In The Jungle" in Seminar: 552, August.

Kothari, A. (2006). Miss The Trees For The Wood. The Hindustan Times, Delhi, June. 2.

Kothari, R. (1988). State Against Democracy: In Search of Humane Governance Delhi, Ajanta.

Lele, S. and Menon, A. (2014). "Democratizing Forest Governance in India" in S. Khanna, Boundaries of Forest Land: The Godavarman Case and Beyond, New Delhi, Oxford University Press.

Mahapatra, A. K. (1968). Social Movements Among Tribal in Eastern India. Sociologies, 18(1).

Mahapatra, L. K. (1994). Tribal Development In India: Myth and Reality New Delhi, Vikas Publishing House.

McNeill, R. (2000). Something New Under the Sun: An Environmental History of the Twentieth Century. Penguin, Allen Lane, London.

Munshi, I. (2012). The Adivasi Question: Issues of Land, Forest and Livelihood. New Delhi, Orient Blackswan.

Pathak, A. (1994). Contested Domains: The State, Peasants and Forests In Contemporary India. New Delhi, Sage Publications.
Prasad, A. (2004). Environmentalism and The Left: Contemporary Debates and Future Agendas In Tribal Areas. New Delhi, Left Word.
Shah, G. (2009). Social Movement in India: A Review of Literature. Sage Publication, India. Pvt. Ltd.
Singh, H. (1967). Report of The Committee of India on Tribal Economy In Forest Area. Government of India, New Delhi.
Singh, K. S. (1983a). Tribal Movements in India. vol. II, Delhi, Manohar.
Singh, K. S. (1986). Agrarian Dimensions of Tribal Movements. in Agrarian Struggles in India after Independence. (ed.). Desai, A. R, New Delhi.
Sundar, N. (2009). Legal Grounds: Natural Resources, Identity and the law In Jharkhand. Delhi, Oxford University Press.
The Constitution of India, As Amended By The Constitution (Ninety-eighth Amendment) Act 2012. New Delhi, pp. 204-206, Universal Law Publishing.
Yoram, B. (1989). Economic Analysis of Property Rights. Cambridge. pp. 1988, Cambridge University Press.cles
Bailey, M. J. (1992). Approximate Optimality of Aboriginal Property Rights. Journal of Low and Economics.
Kolavalli, S. (1995). "Joint Forest Management: Superior Property Rights?" Economic and Political Weekly Vol. 30, No. 30 (Jul. 29), accessed date 01. 10. 2014, 01:03.
Sarin, M. (2001a). Disempowerment in the Name of Participatory Forestry: Village Forest Joint Management in Uttarakhand in India, Forest Trees and People Newsletter. No.44, World Rainforest Movement.Sundar, N. (2005). "Laws, Policies and Practices In Jharkhand" Economic and Political Weekly, Vol.40, No.41.

Hindi Sources

कमल नयन चोबे, (2013ए) दो प्रगतिशील कानूनों की दास्तानरू राज्य, जन-आन्दोलन और प्रतिरोध प्रतिमान समय, समाज, संस्कृति, खंण्ड 1(1), 149-177।
कमल नयन चोबे (2013) जगल का संघर्ष प्रगातिशील कानून और राज्य सामाजिक प्रकाशन समाज और इतिहास, नवीन श्रंखला 3, नेहरू स्मारक संग्राहलय एंव फस्तकालय, नई दिल्ली।
चोबे कमल नयन (2013). जंगल का संघर्ष, 'प्रगतिशील' कानून और राज्य, सामायिक प्रकाशन समाज और इतिहास नवीन श्रृखंला, 3, नेहरू स्मारक संग्राहलय एवं फस्तकालय, नई दिल्ली।
चोबे कमल नयन (2013). जंगल का संघर्ष, 'प्रगतिशील' कानून और राज्य, सामायिक प्रकाशन समाज और इतिहास नवीन श्रृखंला, 3, नेहरू स्मारक संग्राहलय एवं फस्तकालय, नई दिल्ली।
एडवेचंर टूरिज़्म आदिवासियों के अधिकारों का हनन, सलमान रावी, बीबीसी, मंगलवार, 20, मार्च, 2012।
महाश्वेता देवी, (1979). जंगल के दावेदार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
योजना, 'जनजाति एवं वंचित वर्ग', वर्ष 58, अंक 1, जनवरी 2014, पृष्ठ संख्या 18-19.